दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष नववाँ
विशेषाँक

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

चैत्र
२४८०

कल्याण के लिये

मैं एक ज्ञानस्वभाव ही हूँ, शरीरादि मैं नहीं हूँ और राग मेरा स्वरूप नहीं है, ज्ञानस्वभाव में ही मेरा सर्वस्व है—ऐसा लक्ष्य अन्तर में हुए बिना निश्चय-व्यवहार या उपादान-निमित्त की अनादिकालीन भूल दूर नहीं होती, और यह भूल दूर हुए बिना अन्य चाहे जितने उपाय करे तो भी कल्याण नहीं हो सकता। इसलिये जिसे आत्मा का कल्याण करना हो, धर्मी होना हो, उसे यह बात समझकर निर्णय करने योग्य है।

—पूज्य गुरुदेव

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

जामनगर में पूज्य स्वामीजी का

महान प्रभाव

[राजप्रमुख श्री जाम साहब के बंगले पर सम्मान]

पोरबन्दर से विहार करके परम पूज्य श्री कानजी स्वामी फाल्गुन शुक्ला १४ के दिन जामनगर शहर में पधारे थे। जामनगर के मुमुक्षु संघ ने पूज्य गुरुदेव का उल्लासपूर्वक अपूर्व स्वागत किया था। पूज्य गुरुदेव १९ वर्ष बाद जामनगर में पधार रहे थे, इसलिये भक्तजनों ने हर्ष का पार नहीं था। प्रतिदिन पूज्य गुरुदेव का प्रवचन सुनने के लिये शहर की जनता अच्छी संख्या में एकत्रित होती थी। पूज्य गुरुदेव के साक्षात् समागम से जामनगर के जिज्ञासु जीव खूब प्रभावित हुए हैं। सौराष्ट्र के माननीय राजप्रमुख जामसाहब तथा महारानी साहिबा की ओर से पूज्य गुरुदेव को भावपूर्व आमंत्रण दिया गया था, इसलिये पूज्य गुरुदेव उनके बंगले पर पधारे थे और वहाँ प्रवचन किया था। जामसाहब ने पूज्य गुरुदेव का सम्मान करके इस प्रसंग के हर्षोपलक्ष में श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट को १००१) रुपये अर्पण किये थे। सौराष्ट्र में विचरते हुए पूज्य गुरुदेव पद-पद पर जैनधर्म की प्रभावना कर रहे हैं और भव्य मुमुक्षुओं को मुक्तिमार्ग का सन्देश सुना रहे हैं। जामनगर से विहार करके पूज्य गुरुदेव मोरबी पधारे हैं। मोरबी में पंच-कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव हो रहा है।

आत्मधर्म

चैत्र : २४८० ☆ वर्ष नववाँ ☆ विशेषांक

स...म्य...क्...द...र्श...न

केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण निर्मल ज्ञानदशा। आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है, उसकी पहिचान करके ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से पूर्ण ज्ञान का विकास प्रगट हो जाए, उसका नाम केवलज्ञान है। वह ज्ञान सर्व पदार्थों को और उनकी समस्त पर्यायों को एकसाथ प्रत्यक्ष जानता है। जिसका स्वभाव ही ज्ञान है, वह किसे नहीं जानेगा ? अपूर्ण जाने या रुक-रुककर क्रमशः जाने, अथवा तो परोक्ष जाने—ऐसा ज्ञान का स्वरूप नहीं होता। स्व-पर समस्त पदार्थों को एक समय में प्रत्यक्ष, बिना किसी का अवलम्बन लिये जानने का ज्ञानस्वभाव का सामर्थ्य है। केवलज्ञान होने पर वह सामर्थ्य पूर्णतः प्रगट हो जाता है और उसमें तीनकाल-तीनलोक के समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय एकसाथ स्पष्ट ज्ञात होते हैं। ऐसा केवलज्ञानस्वभाव प्रत्येक चैतन्य में प्रतिसमय शक्तिरूप से विद्यमान है; उसका विश्वास करके उसमें अन्तर्मुख होने से वह शक्ति व्यक्त-कार्यरूप होती है। केवलज्ञान भूतकाल की अनंत पर्यायों को और भविष्य की अनंत पर्यायों को भी वर्तमान पर्याय जैसा स्पष्टरूप से जानता है। बहुत पहले की—भूतकाल की पर्यायें अस्पष्टरूप से ज्ञात हों और निकट की पर्यायें स्पष्टरूप से ज्ञात हों—ऐसा भेद उसमें नहीं है। वर्तमान पर्याय को वर्तमानरूप से जानता है और भूतकाल में जो पर्यायें हो गई हैं, उन्हें उसीप्रकार जानता है, तथा भविष्यकाल में जिस समय जो पर्यायें होंगी, उन्हें भी तदनुसार जानता है,—परन्तु जानता तो वर्तमान में ही है। जाननेवाला कहीं भूत-भविष्य में रहकर जानने का कार्य नहीं करता, परन्तु स्वयं वर्तमान में ही त्रिकाल का ज्ञान कर लेता है। जब भविष्य की पर्याय होगी, तभी उसका ज्ञान होगा—ऐसा नहीं है, परन्तु वह पर्याय प्रगट होने से पूर्व ही केवलज्ञान के दिव्य सामर्थ्य में उसका ज्ञान हो गया है। सम्यग्दृष्टि को ऐसे केवलज्ञान की प्रतीति होती है, और उसके अपने आत्मद्रव्य में भी ऐसा परिपूर्ण सामर्थ्य वर्तमान में भरा हे, उस सम्पूर्ण द्रव्य को भी सम्यग्दर्शन द्वारा प्रतीति में लिया है। केवलज्ञान

समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है, तब श्रुतज्ञान उन्हें परोक्ष जानता है। शास्त्रों में ऐसा कथन आता है कि जितना केवलज्ञान का विषय है, उतना ही श्रुतज्ञान का भी विषय है—मात्र प्रत्यक्ष-परोक्ष का ही भेद है। श्रुतज्ञान परोक्ष होने पर भी उसमें विपरीतता नहीं है; वह भी केवलज्ञान की ही जाति का है; और उसमें भी राग टूटकर जितना स्व-संवेदन हुआ है, उतनी तो प्रत्यक्षता है। प्रथम अपने परिपूर्ण सामर्थ्य की प्रतीति और महिमा करके ज्यों-ज्यों उसका स्वसंवेदन बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों ज्ञान का विकास होता जाता है और अन्त में पूर्ण केवलज्ञान सामर्थ्य प्रगट हो जाता है।—ऐसा केवलज्ञान का पंथ है। अपने ज्ञानस्वभाव के ही अवलम्बन के अतिरिक्त अन्य कोई केवलज्ञान का साधन नहीं है। [—प्रवचन से]

ग्राहकों से.....

इस अंक के साथ आत्मधर्म का नववाँ वर्ष पूर्ण हो रहा है।

आगामी वर्ष का चंदा ३-०-० मनिआर्डर से भेज दीजिये जिससे बिना विलंब के अंक मिलता रहे। वी.पी. से अंक मंगाने पर विलंब के साथ ही साथ सात आना अधिक खर्च होगा। अतः सुविधा की दृष्टि से मनिआर्डर भेजना अच्छा होगा। मनि. कूपन में ग्राहक नं. लिखना न भूलें।

—प्रकाशक

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की कुछ शक्तियाँ

[१३]

असंकुचित-विकासत्वशक्ति

[सं० नोट : यह लेख विशेष एकाग्र होकर, शान्ति से अनेकबार पढ़िये।]

ज्ञानस्वभावी आत्मा में विद्यमान शक्तियों का वर्णन चल रहा है। उसमें तेरहवीं असंकुचित-विकासत्वशक्ति का विवेचन चलता है। आत्मा के असंख्यप्रदेशी क्षेत्र में चैतन्यस्वभाव की अमर्यादित शक्ति है; असंख्यप्रदेश में प्रभुता की शक्ति भरी है। सिद्ध की शक्ति इतने ही क्षेत्र में है; तीन काल-तीन लोक का ज्ञाता इतने स्वक्षेत्र में ही विद्यमान है। वहाँ, ''इतने अल्पक्षेत्र में ऐसा अपार स्वभाव कैसे हो सकता है?''—इसप्रकार अल्पक्षेत्र के सन्मुख देखकर जो अपार स्वभाव में शंका करता है, वह जीव पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि है। आत्मा का प्रदेश भले असंख्यप्रदेशी ही हो; परन्तु इतने क्षेत्र में ही उसमें अनंत ज्ञान-दर्शन-आनंद उत्पन्न करने की शक्ति भरी है।—इसप्रकार आत्मस्वभाव की अमर्यादित प्रभुता का विश्वास करने से पर्याय विकसित होती है; छोटे-बड़े के साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। किसी का आकार पाँच सौ हाथ का हो, वह महामूढ़ होता है, तथा किसी का आकार सात हाथ का हो और केवलज्ञान प्राप्त करता है। इसलिये क्षेत्र पर से स्वभाव का माप नहीं निकलता। देखो, आकाश लोकव्यापी अनंतानंत प्रदेशी है, और परमाणु एकप्रदेशी ही है; तथापि, जिसप्रकार अनंतप्रदेशी आकाश अपने स्वभाव से त्रिकाल स्थित रहता है, उसीप्रकार एक प्रदेशी परमाणु भी अपने स्वभाव से त्रिकालस्थायी है; अपनी-अपनी सत्ता से दोनों परिपूर्ण हैं। आकाश में जितने—अनंत गुण हैं, उतने ही गुण एक परमाणु में भी है; आकाश का क्षेत्र बड़ा और परमाणु का क्षेत्र छोटा है—तथापि उन दोनों में अपने-अपने समान ही गुण हैं। आकाश का क्षेत्र बड़ा है, इसलिये उसमें अधिक गुण हैं और परमाणु का क्षेत्र छोटा है, इसलिये उसमें कम गुण हैं - ऐसा नहीं है। इसप्रकार क्षेत्र पर से स्वभाव की शक्ति का माप नहीं

निकलता। जीव असंख्यप्रदेशी द्रव्य है, तथापि उसके स्वभाव में अनंतकाल और अनंत क्षेत्र के पदार्थों को जानने की शक्ति भरी है। जो उस स्वभाव का विश्वास करे, उसकी अपार शक्ति का विकास हो जाता है। स्वभावसन्मुख देखने से ही स्वभाव का विश्वास होता है; इसके अतिरिक्त बाह्य में उसका अन्य कोई उपाय नहीं है।

आत्मद्रव्य के एकसमय के परिणमन में अनंत अमर्यादित शक्ति प्रगट होने की शक्ति है; वह शक्ति पर के या पर्याय के आश्रय से नहीं परन्तु द्रव्य के ही आश्रय से प्रगट होती है। ऐसा अमर्यादित चिद्विलास है। निमित्त तो पर है और पर्याय अपूर्ण है; उस पर जोर देने से उस मर्यादित के लक्ष से मर्यादितपना ही रहता है, परन्तु विकास नहीं होता। त्रिकालीस्वभाव पर जोर देने से पर्याय में भी अमर्यादित शक्ति का विकास होता है।

जैसे—जो लोग उदार होते हैं, वे ऐसा कहते हैं कि तुम्हें जितना चाहिए हो ले जाओ; हमें कमी नहीं पड़ेगी। उसी प्रकार अनंत शक्ति का पिण्ड प्रभु आत्मा ऐसा उदार है कि यदि उसकी श्रद्धा करो तो वह विकास में किंचित् भी संकोच नहीं रखेगा। अनंत केवलज्ञान की पर्यायों का विकास हो, तथापि आत्मा में कभी संकोच नहीं आता। आत्मा में ऐसी शक्ति है कि उसका विश्वास करके अवलम्बन लेने से पूर्ण केवलज्ञान विकसित होता है; उसमें संकोच नहीं रहता। परन्तु ऐसे आत्मा को समझने की दरकार करना चाहिए। बाह्य में बुद्धि लगाकर व्यर्थ का अभिमान करता है, उसके बदले अंतर में अपने आत्मा को पकड़ने के लिये बुद्धि लगाना चाहिए; उसकी रुचि और उत्साह लाना चाहिए। अनंतकाल में पहले कभी नहीं की ऐसी अपूर्व समझ का प्रयत्न भी अपूर्व होना चाहिए।

अहो! चैतन्य का विलास, चैतन्य का आनंद, चैतन्य का मोक्षमार्ग और चैतन्य का मोक्ष—यह सब मेरे चैतन्यद्रव्य के ही आश्रय से है;—ऐसी अंतर श्रद्धा, ज्ञान करने से पर्याय का विकास प्रगट होता है, विकार (दोष) दूर होता है, शुद्धता बढ़ती है और अमर्यादित ज्ञान-आनंद का विलास विकसित होता है। जो जीव ऐसा नहीं जानता, वह वास्तव में देव-गुरु-शास्त्र को नहीं जानता, आत्मा को नहीं जानता और न जैनशासन को भी जानता है।

पर्यायबुद्धि से लाभ होता है, यह तो बात ही नहीं है; परन्तु 'पर्यायबुद्धि छोड़ दूँ'—ऐसी बात यहाँ नहीं ली है; त्रिकाली शक्ति के पिण्डरूप अभेद चैतन्यद्रव्य को ही दृष्टि में लेने की बात की है; उस द्रव्य पर दृष्टि करने से पर्यायदृष्टि रहती ही नहीं। अनादिकाल से पर्यायबुद्धि के कारण

ही जीव के यह संसार बना है। अन्तर में परिपूर्ण शक्ति के पिण्डरूप द्रव्य सदैव है; परन्तु पर्यायबुद्धि छोड़कर कभी उस द्रव्य की ओर नहीं देखा है। अहो! त्रिकालस्वभाव के अंतर-अवलोकन के आलस्य से ही मुक्ति रुकी है। जैसे—भगवान सामने ही बिराजमान हों, परन्तु आँखें खोलने का आलस्य करे तो भगवान कैसे दिखाई देंगे? उसीप्रकार आत्मा स्वयं चैतन्यभगवान है, वह अपने पास ही है, परन्तु अंतर्नेत्रों के आलस्य से उसे नहीं देखता और संसार में भटकता है। लोग कहते हैं कि—"मारा नयणनी आलसे रे...निरख्या न हरिने जरी।" हरि अर्थात् अन्य कोई नहीं परन्तु अपना आत्मा; 'नयणनी आलसे' अर्थात् ज्ञानचक्षु के प्रमाद के कारण स्वयं अपने को नहीं देखा। जो पापों के ओघ को हरे वह हरि;—किसप्रकार हरे? कि हरि जो अपना शुद्ध चैतन्य-परमेश्वर, उसे दृष्टि में लेते ही मिथ्यात्वादि पापसमूहों का नाश हो जाता है। मिथ्यात्वादि का नाश करना—यह कथन भी व्यवहार का है; वास्तव में तो शुद्ध चैतन्य की दृष्टि में उन मिथ्यात्वादि की उत्पत्ति ही नहीं होती। देखो; यह प्रभु के दर्शनों की रीति! यहाँ आचार्यदेव आत्मा को पामर कहकर उपदेश नहीं करते परन्तु आत्मा की प्रभुता बतलाते हैं; साक्षात् चैतन्यप्रभु की प्रगटता बतलाई जा रही है; तू अपने ज्ञाननेत्र खोलकर देखे—इतनी ही देर है। संकोच और विकार हुआ है, वह क्षणिकपर्याय की योग्यता है परन्तु तेरी त्रिकाली शक्ति वैसी नहीं है; इसलिये उस विकार और संकुचित पर्याय की ही ओर देखने से आत्मा की प्रतीति नहीं होती; त्रिकाली आत्मस्वभाव की ओर देखने से आत्मा की प्रतीति होती है और उसमें से अमर्यादित असंकुचितविकास प्रगट होता है।

कोई कहे कि आत्मा में असंकुचित-विकासत्व स्वभाव होने पर भी अभी तक उसकी पर्याय में संकोच क्यों रहा? तो उसका कारण यह है कि जीव को अनादिकाल से पर्यायबुद्धि है; इसलिये वह क्षणिक पर्याय जितना ही अपने को मानता है; परन्तु अपने स्वभावसामर्थ्य को ध्यान में नहीं लेता। यदि स्वभाव को लक्ष में लेकर उसमें एकाग्र हो तो पर्याय में से संकोच दूर होकर विकास हुए बिना न रहे। यहाँ तो द्रव्य-पर्याय सहित की बात है—अर्थात् साधक की बात है; साधक जीव ने अपनी स्वभावशक्ति को प्रतीति में लिया है और पर्याय में उसे उन शक्तियों का निर्मल परिणमन उछलता है। जो जीव अपनी स्वभावशक्ति को प्रतीति में नहीं लेता, उसे उसका निर्मल परिणमन नहीं उछलता;—ऐसे जीव की यहाँ बात नहीं है।

जीव की पर्याय में अनादि से जो संकोच है, वह किसी पर के कारण नहीं है परन्तु अपनी ही पर्याय में भूल के कारण है। जो जीव अपनी पर्याय की भूल को न पकड़े और पर के कारण मेरी

पर्याय संकुचित है—ऐसा माने, वह जीव भले ही राग कम करके अनेक शास्त्रों की धारणा कर ले, तथापि उसे आत्मा का लाभ नहीं होता। और, मेरी पर्याय में जो संकोच है, वह मेरी अपनी भूल के कारण है; किसी पर के कारण नहीं है—ऐसा तो माने, परन्तु यदि भूलरहित स्वभाव की ओर देखकर उस भूल का नाश न करे तो उसे भी आत्मा का लाभ नहीं होता। आत्मा त्रिकाली चैतन्यस्वभाव का पिण्ड है, उसकी सन्मुखता से ही आत्मा का लाभ होता है और संकोच दूर होकर विकास प्रगट होता है। मेरा त्रिकाली स्वभाव क्या है और परिणमन में संकोच क्यों है—वह समझे बिना किसकी ओर देखकर पर्याय का विकास करेगा? मंदकषाय को ही जो जीव चैतन्य का विकास मान बैठा हो, उसे कषाय से भिन्न चैतन्यस्वभाव का भान नहीं है, इसलिये उसके चैतन्य का विलास प्रगट नहीं होता। मुख्य भूल कौन सी है और उस भूलरहित स्वभाव क्या है—वह न जाने और भ्रमण में रह जाये, उसके चैतन्य का विकास नहीं होता। उसके कदाचित कषाय की मंदता और ज्ञान का विकास भले हो, परन्तु उसमें आत्मा का हित नहीं है; वह चैतन्य का सच्चा विलास नहीं है। चैतन्य के विलास की अतीन्द्रिय मौज तो परम अद्भुत है!

कोई जीव ज्ञानविकास के बल से यह बात मन में धारण भी कर ले, परन्तु आत्मा की पर्याय में जो अपनी भूल है, वह न समझकर मात्र परसन्मुख ज्ञान के विकास से अन्य अनेक बातें जानता हो तो भी उसकी भूल दूर नहीं होगी और न उसका अपूर्व कल्याण होगा। जिसे भूल का ही पता न हो, वह भूल दूर करके भगवान कैसे होगा? और यदि अपने स्वभाव में ही भगवानपना न भरा हो तो भी भगवान कैसे होगा? भगवानपना और भूल—इन दोनों को जो जीव समझ ले, उसके भूल दूर होकर अपने में भगवानपने का विकास हुए बिना नहीं रह सकता। मेरा स्वभाव क्या है और अंतर की सूक्ष्म भूल कहाँ रह जाती है—उसकी खबर पड़े बिना, भले ही ग्यारह अंग पढ़ा हो तथापि, जीव की भूल दूर नहीं हो सकती। यदि वर्तमान में भूल है तो निश्चित होता है कि निजस्वभाव की जैसी रुचि होना चाहिए वैसी रुचि नहीं की है; और यदि भूल न हो तो निजस्वरूप समझ में आ जाना चाहिए और उसके आनन्दादि का विलास खिलना चाहिए। मेरा संकोचरहित स्वभाव कैसा है और अभी तक पर्याय में संकुचित क्यों रहा—इस बात को जो नहीं पकड़ सकता, वह जीव संकोच पर्याय का नाश नहीं कर सकता और न उसके संकोचरहित विकास प्रगट हो सकता है।

कई लोगों को ऐसा प्रश्न उठता है कि—द्रव्य की पर्यायें तो क्रमबद्ध ही होती हैं—ऐसा आप कहते हैं; तो उसमें पुरुषर्थ कहाँ आया?—उनका समाधान:—देखो भाई! द्रव्य की

क्रमबद्धपर्यायें होती हैं—ऐसा जिसने निर्णय किया, उसने यह भी निर्णय किया ही है कि वे पर्यायें द्रव्य में से आती हैं—बारह से नहीं आतीं; इसलिये ऐसा निर्णय करनेवाले की दृष्टि बाह्य में नहीं रहती परन्तु अंतर में अपने द्रव्य पर उसकी दृष्टि जाती है; और द्रव्य में तो संकोचरहित विकास होने का स्वभाव है, इसलिये उस द्रव्यदृष्टि के बल से पर्याय में क्रमबद्ध विकास ही होता जाता है। इसप्रकार क्रमबद्ध पर्याय के निर्णय में द्रव्यदृष्टि और मोक्षमार्ग का अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है।

प्रत्येक वस्तु दूसरी अनंत वस्तुओं से पृथक है और निजस्वभाव से एकत्वरूप है; ऐसी स्वतंत्र वस्तु का स्वभावसामर्थ्य अमर्यादित है; उस वस्तुस्वभाव के आश्रय से होनेवाली अवस्था भी पर से पृथक् और स्वभाव के साथ एकत्वरूप है; उस पर्याय में भी अमर्यादित शक्ति है। आत्मा अमुक क्षेत्र और अमुक काल को ही जान सके—ऐसी मर्यादा नहीं है; परन्तु अमर्यादित क्षेत्र और अमर्यादित काल को जान ले—ऐसी उसके चैतन्यविलास की अमर्यादित शक्ति है। पाँच करोड़ मनुष्यों के समूह में कोई लाउड-स्पीकर द्वारा ऐसा बोले कि "आत्मा अनंत गुणों का भण्डार है, उसे पहिचानो!"—तो वहाँ सभी सुननेवालों को वैसा ही ख्याल आता है; और "इससमय पाँच करोड़ मनुष्य ऐसा कथन सुन रहे हैं"—इस प्रकार पाँच करोड़ का ज्ञान एक क्षण में हो जाता है; पाँच करोड़ मनुष्यों का ज्ञान करने में पाँच करोड़ क्षण की देर नहीं लगती। ज्ञान का स्वभाव तो एक ही साथ सब जान लेने का है; उसमें मर्यादा अर्थात् हीनता रहे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। जहाँ आत्मा की ऐसी शक्ति का भान हुआ और उसका विकास हुआ, वहाँ अनंत सिद्ध भगवन्त, तीर्थंकर, केवली भगवन्त, संत इत्यादि का ख्याल अपने ज्ञान में आ गया, फिर उस जीव को शंका नहीं रहती; दूसरों से पूछना नहीं पड़ता। आत्मा का ज्ञानसामर्थ्य ऐसा अपार और विशाल है कि एक उसी को जानने से सबका ज्ञान हो जाता है।

किसी भी एक शक्ति से आत्मा को पहिचानने से उसमें बहुत रहस्य आ जाता है। आत्मा का स्वभाव कैसे है; पर्याय में संकोच क्यों है; विकास क्यों नहीं है और वह कैसे प्रगट होगा; स्वभाव की रुचि और पहिचान कैसी होती है; जिनके स्वभाव का पूर्ण विकास प्रगट हो गया हो—ऐसे केवली की अन्तर्बाह्यदशा कैसी होती है; उस स्वभाव के साधक संत-मुनियों की दशा कैसी होती है; सम्यग्दृष्टि जीवों की दशा कैसी होती है; पर्यायबुद्धि मिथ्यादृष्टियों की दशा कैसी होती है—यह सब उसमें आ जाता है। आत्मा की एक भी शक्ति का ज्ञान करने से सारे द्रव्य का, गुणों का, पर्याय का, विपरीत दशा का, सम्यक्दशा का, सात तत्वों का, साधक का और सिद्ध का—सभी का

ज्ञान हो जाता है। चैतन्य का अपार विलास प्रगट करके निरन्तर अतीन्द्रिय आनंद की मौज करे, ऐसा अनादि-अनंत गुण आत्मा में है। अविनाशी चैतन्यतत्त्व का विकास किसके आश्रय से प्रगट होता है? क्या नाश होने योग्य ऐसे शुभ विकल्परूप व्यवहार के आश्रय से, संयोग के आश्रय से, या क्षणिक पर्याय के आश्रय से अविनाशी चैतन्यतत्त्व का विकास होता है? अपना जो त्रिकाल अमर्यादित स्वभाव है, उसका विश्वास करने से चैतन्य का परिपूर्ण विकास हो जाता है। जिसका आश्रय करने से क्षणमात्र में संकोच दूर होकर अमर्यादित चैतन्यशक्ति का विकास हो जाये—ऐसा इस आत्मा का स्वभाव है। ऐसे आत्मा का निर्णय करके उसका आश्रय करना ही धर्म है। देखो, इसमें अपने आत्मा के अतिरिक्त देव-गुरु-शास्त्र के आश्रय की बात नहीं की, भक्ति के शुभराग से धर्म होता है, यह बात भी उड़ गई; व्यवहार के अवलम्बन का चूरा हो गया। निश्चय आत्मस्वभाव की दृष्टि में व्यवहार के अवलम्बन का अभाव है; तब फिर निमित्त और संयोग तो कहीं दूर रहे! सम्मेदशिखर या महाविदेहक्षेत्र इत्यादि बाह्य क्षेत्रों में जाऊँ तो मेरे चैतन्य का विकास हो जाए—यह बात नहीं रही; परन्तु अंतर की चैतन्यसत्ता का आश्रय करने से अपार ज्ञानसामर्थ्य विकसित हो जाता है; उस ज्ञान में सम्मेदशिखर और महाविदेहक्षेत्र आदि सब ज्ञात हो जाते हैं। सारी आत्मवस्तु ही अन्तर्मुखदृष्टि का विषय है। जैनशासन का एक भी रहस्य अंतर की दृष्टि के बिना समझ में नहीं आ सकता।

जैसे—कोई सेठ हो और उसका मकान बारह से झोंपड़े जैसा मालूम होता हो; परन्तु अन्दर जाकर देखे तो बड़ी विशालता हो और करोड़ों के मूल्य के हीरे-जवाहिरात पड़े हों! उसीप्रकार सेठ अर्थात् सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ ऐसा चैतन्यमूर्ति आत्मा असंख्यप्रदेशी क्षेत्रवाला होने पर भी उसमें अनंत स्वभावसामर्थ्य भरा है। बाहर से शरीर या पर्याय को देखो तो कोठरी जैसा छोटा मालूम होता है परन्तु अन्तर्द्रव्य को देखने से उसमें अनंतशक्ति का भण्डार भरा है। जैसे कोई अच्छा उदार सेठ हो, वह दुष्काल के समय दूसरों की सहायता नहीं माँगता किन्तु दूसरों की सहायता के बिना स्वयं अकेला ही गुजारा करता है; उसीप्रकार जगत् का राजा चैतन्य-भगवान आत्मा स्वयं अनंत सामर्थ्य का भण्डार है; वह ऐसा उदार है कि अपने से संसारपर्यायरूपी दुष्काल दूर करके अनंत आनंदमय मोक्षदशा प्रगट करने के लिये किसी पर की सहायता ले ऐसा नहीं है—स्वयं अकेला ही अपनी स्वभावशक्ति से पर्याय का संकोच दूर करके, विकास करके मोक्षदशा प्रगट करता है। असंकुचित -विकासत्वशक्तिवाले भगवान आत्मा का आश्रय करने से पर्याय में पूर्ण विकास प्रगट हो जाता है।

प्रथम जो ऐसी श्रद्धा भी न करे, उसमें चारित्रदशा की, मुनिपने की योग्यता ही नहीं होती।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग तथा मुनिपना तो आत्मस्वभाव के ही आश्रय से है; मोक्षमार्ग में निजस्वभाव की ही अपेक्षा है और पर की—निमित्त की उपेक्षा है; निश्चयस्वभाव का ही आश्रय है और व्यवहार की उपेक्षा है; अभेद द्रव्य की ही प्रधानता है और पर्याय की गौणता है।—ऐसे मोक्षमार्ग की साधना करने से साधक की पर्याय में से संकोच दूर होकर पूर्ण विकास प्रगट हो जाता है। चैतन्यस्वभाव में ऐसे अक्षय निधान भरे हैं कि उसमें से चाहे जितना निकालते ही रहो, तथापि न्यूनता नहीं आती। आत्मा कहता है कि मुझमें परिपूर्ण निधान भरे है; जो चाहिए हो ले जाओ; जितनी दशा चाहिए हो प्रगट करो; मुझमें कभी संकोच नहीं आ सकता। परम अवगाढ़ श्रद्धा, दिव्य केवलज्ञान, अनंत अतीन्द्रिय आनंद और अनंतवीर्य—ऐसे अनंत स्वचतुष्टयरूप अमर्यादितदशा मुझमें से प्रगट करो! परन्तु वे प्रगट कैसे होते हैं? कि—अंतर्मुख अवलोकन द्वारा ही वे प्रगट होते हैं; बाह्य में देखने से वे प्रगट नहीं होते। अंतर्मुख होकर स्वभावशक्ति की प्रतीति करने पर उसके अवलम्बन से पर्याय में क्रमशः संकोच दूर होकर विकास होता जाता है और अल्पकाल में पूर्णता प्रगट हो जाती है। वह पूर्णता प्रगट हो जाने के पश्चात उसमें फिर कभी संकोच नहीं होता। ऐसी तेरहवीं शक्ति की प्रतीति, वह तेरहवें गुणस्थान का कारण है।

[-तेरहवीं असंकुचित-विकासत्वशक्ति का वर्णन यहाँ समाप्त हुआ।]

अरे जीव! विरोध छोड़कर अंतर से स्वीकार कर!

यह तुझे तेरी प्रभुता बतलाई जा रही है

साक्षात् चैतन्यमूर्ति निर्मलस्वरूप आत्मा का समझे बिना जन्म-मरण को दूर करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है। नित्य अविकारी ध्रुव चैतन्यस्वभाव को लक्ष में न ले, उस जीव को धर्म नहीं हो सकता और न भव कम हो सकते हैं। जिसे चैतन्यस्वभाव का भान नहीं है, वह जीव मन-वाणी-देह की प्रवृत्ति में अथवा पुण्य में धर्म मानकर रुकता है, परन्तु उसका फल तो बन्धनरूप संसार है। जिसे इस बात का लक्ष नहीं है, वह बाह्य प्रवृत्ति में ही कृतकृत्यता मानता है; इसलिये जब ज्ञानी उसकी मान्यता से विपरीत बात समझाते हैं कि "बाह्य प्रवृत्ति से या पुण्य से धर्म नहीं होता;" तब वह सुनकर सत्यतत्त्व का विरोध करता है।

जिसप्रकार पेड़ा देने के लिये बालक के पास से लकड़ी की चूसनी छुड़ाने पर वह मचल जाता है, उसीप्रकार मुक्तिरूपी पेड़े का स्वाद चखाने के लिये बाल जीवों को (अज्ञानी जीवों को) उनकी विपरीत मान्यतारूपी लकड़ी की चूसनी छुड़ाने पर वे मचल जाते हैं, परन्तु उन्हें खबर नहीं है कि ज्ञानी उनके हित की बात करते हैं।

जो पर की क्रिया से धर्म माननेवाले हैं, तथा पुण्य करते-करते उससे आत्मशुद्धि होगी—ऐसा मानकर उस विकार के स्वाद में ही रुक गये हैं, उनसे ज्ञानी कहते हैं कि भाई! तेरी इस मिथ्यामान्यतारूपी लड़की की चूसनी से सच्चा स्वाद नहीं आयेगा, इसलिये इसे छोड़ और अपने स्वाधीन स्वभाव का अंतर से स्वीकार कर, तो स्वभाव के संवेदन में तुझे सुख का सच्चा स्वाद आयेगा।

मैं पर से भिन्न, साक्षात् चैतन्यज्योति, अनंत आनंद की मूर्ति हूँ—ऐसा समझे बिना जितने शुभराग करे, वे सब मुक्ति के लिये व्यर्थ हैं। ऐसा सुनकर कोई अज्ञानी विरोध करते हैं कि अरे रे! हमारे सब धर्म का नाश हो जाता है! परन्तु प्रभु! विरोध न कर... अस्वीकार मत कर... यह तो तुझे तेरी प्रभुता समझाई जा रही है। तेरा अनंत महिमावान स्वभाव हम तुझे समझा रहे हैं, और तू उसका विरोध करके असत्य का आदर करे—यह तुझे शोभा नहीं देता।

जैसे—कोई कुलीन पुत्र कुमार्गी हो गया हो और उसका पिता उसे समझाये कि भाई! अपने

कुल को यह शोभा नहीं देता... यह तेरे लिये लज्जा की बात है; उसीप्रकार आत्मा के चैतन्यगृह को छोड़कर जो पुण्य-पाप की प्रवृत्तिरूप कुसंग से धर्म मानता है, उसे परम धर्मपिता श्री तीर्थंकरदेव शिक्षा देते हैं कि अरे जीव! तू हमारी जाति का है, कुमार्गीपना तुझे शोभा नहीं देता, इसमें तेरी प्रभुता लजाती है; तेरी जाति तो सिद्ध परमात्मा समान है, इस विकार से तेरी शोभा नहीं है।—ऐसा कहकर उस अज्ञानी जीव को पुण्य-पापरहित उसका ज्ञानस्वभाव समझाते हैं।

अहो! परम सत्य की ऐसी बात कानों में पड़ना भी दुर्लभ है। अनंतकाल में ऐसा अमूल्य अवसर प्राप्त हुआ है, उससमय भी यदि अपूर्व सत्य को समझकर स्वतंत्र वस्तुस्वभाव का सामर्थ्य न समझे तो चौरासी के अवतार के फेरे दूर नहीं होंगे। इसलिये जो जीव अब इस भवभ्रमण से थक गया हो, उसे शांत होकर अंतर से यह बात समझने योग्य है। [समयसार-प्रवचन से]

जन्म-मरण का नाश करनेवाली

भगवान की शक्ति

सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा की स्तुति कब हुई कहलाती है? मात्र शुभराग द्वारा वीतराग भगवान की सच्ची स्तुति नहीं होती। भगवान जैसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र अपने में जितने अंश में प्रगट करे, उतने अंश में भगवान की सच्ची स्तुति होती है। जड़ देह और भगवान आत्मा भिन्न हैं, इसलिये शरीर की स्तुति से भगवान आत्मा की स्तुति परमार्थतः नहीं होती; भगवान के आत्मा की स्तुति से ही परमार्थस्तुति होती है; और परमार्थ से तो जैसा भगवान का आत्मा है, वैसा ही अपना आत्मा है; इसलिये अपने शुद्ध ज्ञायक आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता ही भगवान की परमार्थ-स्तुति है; वही धर्म है; और उसके लक्ष से बीच में भगवान की ओर का विकल्प उठे, वह व्यवहारस्तुति है; उससे पुण्यबंधन है। जो अभी सर्वज्ञभगवान की दशा को भी नहीं जानता और सर्वज्ञभगवान जैसे अपने आत्मा के स्वभाव को नहीं पहिचानता—ऐसे जीव को सच्ची स्तुति नहीं होती; वह जीव भगवान की ओर का जो शुभराग करता है, उसे यहाँ देहस्तुति कहा जाता है। क्योंकि जिसे राग के

साथ एकत्वबुद्धि है, उसे देह के साथ एकत्वबुद्धि भी बनी ही है; इसलिये वह देह की स्तुति करता है। देह और राग से भिन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा को तो वह पहिचानता नहीं है, तो फिर उसे वीतराग भगवान की सच्ची स्तुति कहाँ से होगी ? भगवान का आत्मा देह और राग से रहित चैतन्यमूर्ति है; वैसा ही मेरा आत्मस्वभाव है—ऐसा भान करके जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया, उसने भगवान की सच्ची स्तुति की, वह भगवान का भक्त हुआ।

जो अल्पज्ञ प्राणी है और जिसे वीतरागता की प्रीति है, उस जीव को वीतराग भगवान के प्रति भक्ति का राग आये बिना नहीं रहेगा। वहाँ भगवान के भक्त को भान है कि जैसा वीतराग केवली भगवान का आत्मा है, वैसा ही मेरा आत्मा है; भक्ति करने में जो राग होता है, वह पुण्यबंध का कारण है; वह राग मेरा स्वभाव नहीं है।—ऐसा भान करना ही भगवान की प्रथम परमार्थस्तुति है। परन्तु भगवान पाँच सौ धनुष ऊँचे, भगवान कंचनवर्ण;—ऐसे वर्णन द्वारा भगवान के आत्मा की परमार्थस्तुति नहीं होती ! क्योंकि वह तो देह का वर्णन है। यदि उस समय देह से भिन्न आत्मा के स्वभाव का लक्ष हो तो उस स्तुति को भगवान की व्यवहारस्तुति कहा जाता है। उस व्यवहारस्तुति से पुण्य है और आत्मस्वभाव की प्रतीतिरूप जो भक्ति है, वह धर्म है; उस भक्ति से जन्म-मरण का नाश होता है। यदि आत्मा के परमार्थस्वभाव को न पहिचाने तो भगवान की भक्ति से जन्म-मरण दूर नहीं होते; उसने वास्तव में भगवान की भक्ति नहीं की है परन्तु राग की भक्ति की है।

साधक धर्मात्मा को भगवान की दोनों प्रकार की स्तुति होती है; परन्तु उसमें व्यवहारभक्ति का जो शुभराग है, उसे वे आदरणीय नहीं मानते, अहितकर मानते हैं। जो राग को रखने योग्य माने, वह जीव वीतराग का भक्त नहीं है परन्तु मिथ्यादृष्टि है। वीतराग का भक्त राग का आदर कैसे कर सकता है ? [—प्रवचन से]

सम्यक्त्व-सन्मुख जीव की

पात्रता का वर्णन

[गतांक से आगे]

देखो, यह सम्यग्दर्शन का उद्यम! जिसके अन्तर में सम्यग्दर्शन की आवश्यकता हुई हो... सम्यक्त्व प्रगट करने की लालसा जागृत हुई हो—ऐसे जीव की यह बात है। वह जीव चैतन्य को पकड़ने के लिये एकान्त में विचार करता है कि—अहो! चैतन्यवस्तु की महिमा अपूर्व है... उसकी निर्विकल्प प्रतीति को किसी राग का या निमित्त का अवलम्बन नहीं है; क्योंकि अनंतबार शुभभाव करने पर भी चैतन्यवस्तु लक्ष में नहीं आई। राग से पार चैतन्यवस्तु अंतर की कोई अपूर्व वस्तु है, उसकी प्रतीति भी अपूर्व अन्तर्मुख प्रयत्न से प्रगट होती है; कोई बाह्य कारण या राग उसमें सहायक नहीं है। पूर्व अनंतकाल में अज्ञानरूप से अनंतानंतबार द्रव्यलिंगी साधु होकर शुभभाव से नवमें ग्रैवेयक तक गया, तथापि चैतन्यवस्तु दृष्टि में न आई। वह चैतन्यवस्तु राग के अवलम्बन से पार है; कोई अपूर्व महिमावंत अंतर की वस्तु है; अन्तर्मुख ज्ञान से ही उस पकड़ा जा सकता है।—इसप्रकार एकान्त में विचार करके चैतन्यवस्तु को पकड़ने का उद्यम करता है। इसप्रकार अन्तर्मुख उद्यम करते-करते अल्पकाल में वह जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है।

शास्त्र में किसी-किसी स्थान पर ऐसा कहते हैं कि "सम्यग्दर्शन तो सहज वस्तु है"—वहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि स्वभाव की ओर के प्रयत्न बिना ही वह प्राप्त हो जाता है! किन्तु बाह्य क्रियाकाण्डों से या विकल्पों से उसकी प्राप्ति नहीं होती, उस अपेक्षा से सम्यग्दर्शन को सहज कहा है—ऐसा समझना चाहिए। सम्यग्दर्शन में स्वभाव की ओर का अपूर्व उद्यम तो है ही। समयसार में आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! तू जगत का व्यर्थ कोलाहल छोड़कर अंतर में चैतन्यवस्तु के अनुभव का छह महीने तक प्रयत्न कर, तो तेरे अंतर में तुझे अवश्य उसकी प्राप्ति होगी। रुचिपूर्वक अंतर में अभ्यास करे तो अल्पकाल में उसका अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा। इसलिये अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये अंतर में तत्त्वनिर्णय और अनुभव का उद्यम करना चाहिए।

[—श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २६२ पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से।
वीर. सं० २४७९ प्रथम वैशाख शुक्ला ११-१२]

व्यवहारमूढ़ जीवों का अभिप्राय

[दिगम्बर और श्वेताम्बरों के बीच महान सिद्धांतभेद]

[श्री समयसार गाथा ४१३ पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

आत्मा के भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है; उसके बदले जिनका ऐसा अभिप्राय है कि—''मोक्षमार्ग में प्रथम व्यवहारनय परिणमित होता है और फिर निश्चयनय''—वे व्यवहारमूढ़ हैं। उन्हें आचार्यदेव समझाते हैं कि अरे भाई! तुम्हारा व्यवहार तो अनादिरूढ़ है; आत्मा के निश्चयस्वभाव के भान बिना ऐसा शुभराग तो तुमने अनादिकाल से किया है; उसमें तुमने नया क्या किया? अभव्य जीव भी ऐसा व्यवहार तो करते हैं; तो तुम्हारे और उनके अभिप्राय में क्या अन्तर हुआ? ''पहले व्यवहार और फिर निश्चय'' ऐसा माननेवालों के अभिप्राय में और अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि के अभिप्राय में कोई अन्तर नहीं है, दोनों व्यवहारमूढ़ हैं।—इस सम्बन्ध में दिगम्बर और श्वेताम्बर मतों के बीच महान दृष्टिभेद है; उसका श्री कानजी स्वामी ने इस प्रवचन में स्पष्टीकरण किया है। प्रत्येक जिज्ञासु जीव को यह विषय समझना आवश्यक है।

आत्मा ज्ञानानंदस्वरूप है, उसके ध्रुवस्वभाव में श्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रता—वही मोक्षमार्ग है; उसके बदले शुद्धात्मा के भान बिना मात्र व्यवहाररत्नत्रय के शुभराग को ही जो मोक्षमार्ग मानता है, उसे आचार्यदेव व्यवहारमूढ़ कहते हैं। वे जैसा व्यवहार करते हैं, वैसा व्यवहार तो जीव ने अनादि से किया है और अभव्य जीव भी वैसा व्यवहार करता है; इसलिये जो व्यवहार का आश्रय करके उसे मोक्षमार्ग मानते हैं, वे जीव अनादिकालीन रूढ़ व्यवहार में ही मूढ़ हैं और यथार्थ विवेकवाले निश्चय में वे अनारूढ़ हैं।

दिगम्बर संत कहते हैं कि—निश्चयस्वभाव के आश्रय से ही मोक्षमार्ग है; निश्चयपूर्वक ही व्यवहार होता है; निश्चय के बिना व्यवहार होता ही नहीं; जो निश्चय का आश्रय करे, वही

सम्यक्त्वी है। यह यथार्थ वस्तुस्थिति है; परन्तु व्यवहारमूढ़ मिथ्यादृष्टि जीव उसका विरोध करके कहते हैं कि—मोक्षमार्ग में प्रथम व्यवहार परिणमित होता है और फिर निश्चय है; इसलिये व्यवहारी वह सम्यक्त्वी है। परन्तु उनकी बात महान विपरीत है।

श्रावकों के व्यवहार या व्रतादि के शुभराग को ही जो मोक्ष का कारण मानते हैं और आत्मा के परमार्थ स्वभाव को नहीं जानते, वे अनादिकालीन व्यवहार में ही मूढ़ हैं और प्रौढ़ विवेकवान निश्चय पर वे अनारूढ़ है; वे परमार्थशुद्ध ऐसे शुद्धात्मा को नहीं देखते।

पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण, देव-गुरु-शास्त्र की विनय इत्यादि शुभराग को अंगीकार करके जो ऐसा मानते हैं कि—''यही मोक्ष का कारण है, यह व्यवहार करते-करते मुक्ति हो जायेगी''—तो वे जीव व्यवहारमूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं। अरे भाई! चैतन्य के निश्चयस्वभाव के भान बिना ऐसा शुभराग तो तूने अनादिकाल से किया है,—इसमें तूने नया क्या किया? और अभव्य जीव भी ऐसा व्यवहार तो करते हैं, तो फिर तुझमें और उनमें क्या अन्तर हुआ? तूने पूर्व काल में अनन्तबार ऐसा व्यवहार किया, परन्तु वह मोक्ष का कारण नहीं हुआ, तो फिर इस समय कहाँ से होगा? इसलिये समझ कि मोक्षमार्ग तो निश्चयस्वभाव के आश्रय से ही है। ''प्रथम व्यवहार और फिर निश्चय''—ऐसा नहीं है। अकेला शुभरागरूप व्यवहार तो तू अनादिकाल से करता आया है, तो उसमें से तू किस राग को 'प्रथम' कहेगा? तेरा माना हुआ व्यवहार तो अनादिरूढ़ है, वह वास्तव में व्यवहार नहीं किन्तु व्यवहाराभास है। निश्चय प्रगट हुए बिना व्यवहार किसे कहा जाए? आत्मा के भूतार्थस्वभाव का आश्रय करके निश्चयश्रद्धा-ज्ञान प्रगट किए, तब शुभराग को उपचार से व्यवहार कहा और पूर्व के राग को भूतनैगमनय से व्यवहार कहा; परन्तु निश्चय के बिना व्यवहार कैसा? जिसे अभी प्रमाणज्ञान भी नहीं हुआ है, उसे नय कहाँ से होंगे? निश्चयनय से भूतार्थस्वभाव का ज्ञान करने से प्रमाण ज्ञान हुआ, तब राग के ज्ञान को व्यवहारनय कहा। इसप्रकार निश्चयपूर्वक ही व्यवहार होता है। निश्चयस्वभाव के भान बिना मात्र शुभराग को हम व्यवहार नहीं कहते, वह तो अनादिकालीन व्यवहाराभास है। ऐसा व्यवहार तो अभव्य के भी होता है। ''प्रथम व्यवहार और फिर निश्चय''—ऐसा माननेवाले के अभिप्राय में, और अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं है, दोनों व्यवहारमूढ़ हैं। पुनश्च, ''प्रथम व्यवहार और फिर निश्चय''—ऐसी मान्यता और ''शुभराग से परित संसार हो जाता है''—ऐसी मान्यता इन दोनों में व्यवहारमूढ़ता का अभिप्राय एकसमान है।

श्वेताम्बर शास्त्रों में मिथ्यादृष्टि जीव को दया, दानादि के शुभ परिणाम से परित संसार होना कहा है। मेघकुमार ने हाथी के भव में खरगोश की दया का पालन किया, इसलिये उसका संसार परित हो गया;—ऐसा कहते हैं, और सुबाहुकुमार के जीव ने सुमुख गाथापति के भव में मुनि को आहारदान दिया, इसलिये उसका परितसंसार हो गया,—इसप्रकार के दस दृष्टान्तों से वे शुभराग से परितसंसार होना मनाते हैं, परन्तु वह महान भूल है। अंतर में चैतन्य-स्वभाव के अवलंबन बिना कभी भी भव का अन्त नहीं हो सकता। राग तो संसार का कारण है, उससे भवान्त कैसे हो सकता है? और मिथ्यादृष्टि को तो अनंत संसार के कारणभूत अनन्तानुबंधी का भाव बना है, उसे मिथ्यादृष्टिपने में परितसंसार हो ही नहीं सकता। चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से ही परितसंसार होता है, उसके बदले दया, दानादि के शुभराग से परितसंसार होना मानना—वह भी व्यवहारमूढ़ता है। दया-दानादि के शुभभाव तो औदयिकभाव हैं, वे स्वयं संसार हैं, तो उनसे संसार का नाश कैसे हो सकता है? नहीं ही हो सकता।

ज्ञायकमूर्ति चैतन्यस्वभाव, वह परमार्थ है, उसके आश्रय से प्रगट हुए निश्चयसम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र-वह मोक्षमार्ग है और निश्चयश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए, तब राग में उपचार करके उसे व्यवहार कहा जाता है; उसके बदले जो अकेले व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग मानता है, वह व्यवहार मूढ़ है; ऐसा व्यवहार तो अनादि से चला आ रहा है; इसलिये वह अनादिरूढ़ है। अज्ञानी लोग कहते हैं कि देव-गुरु-शास्त्र के श्रद्धा-ज्ञान तथा पंच महाव्रतादि के शुभरागरूप व्यवहार—वह प्रथम, और फिर उससे निश्चय की प्राप्ति होती है; तो उनसे आचार्यभगवान कहते हैं कि अरे भाई! तुम तो अनादिरूढ़ ऐसे व्यवहार में ही मूढ़ हो, तुम्हारे माने हुए व्यवहार को तो हम व्यवहार भी नहीं कहते, वह तो व्यवहाराभास है। आत्मा के भान बिना जीव तीव्र और मन्द राग तो अनादिकाल से करता ही आया है; तथापि जो उसे मोक्षमार्ग का कारण मानते हैं, वे जीव व्यवहार में मूढ़ हैं।

देखो, श्वेताम्बरों में ऐसा कहते हैं कि—प्रथम व्यवहारनय परिणमित होता है और फिर निश्चयनय परन्तु यह बात वस्तुस्वरूप से बिलकुल विपरीत है। अकेली व्यवहार प्रधान दृष्टि हुई, इसलिये सर्वज्ञ से चली आ रही सनातन जैन परम्परा से श्वेताम्बर पृथक् हो गए। वे आत्मा के भानरहित मिथ्यादृष्टि को भी दया-दानादि के शुभपरिणाम से परितसंसार होना मानते हैं; वह अकेली व्यवहारप्रधान दृष्टि है; यहाँ उसे "अनादिरूढ़ व्यवहार में मूढ़" कहकर आचार्यदेव

यथार्थ वस्तुस्थिति समझाते हैं कि—अरे भाई! तू कौन से व्यवहार को प्रथम कहता है? क्या दया-दानादि के शुभभाव जीव ने अनादि से नहीं किए? मिथ्यादृष्टिरूप से शुभराग तो अनादि से करता ही आ रहा है; तब फिर उसे 'प्रथम' कैसे कहा जाए? और उससे परितसंसार भी कैसे हो? आत्मा के भूतार्थस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट किए बिना परितसंसार होता ही नहीं और राग को व्यवहार कहा ही नहीं जा सकता।

दिगम्बर और श्वेताम्बर की दृष्टि में यह मूलभूत अन्तर है; दोनों सम्प्रदायों के बीच यह महान सिद्धान्तभेद है। इस बात को बराबर समझकर निर्णय करने योग्य है।

दिगम्बर संत कहते हैं कि—''निश्चयपूर्व ही व्यवहार होता है, निश्चय के बिना अकेले राग को व्यवहार नहीं कहा जा सकता।—यह तो यथार्थ वस्तुस्वरूप हैं।

श्वेताम्बरों में कहते हैं कि—''व्यवहारनय प्रथम परिणमित होता है और फिर निश्चय''—इसमें महान विपरीत दृष्टि है। उसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि जो व्यवहार अनादिकाल से चला आ रहा है, उसे पहला कैसे कहा जा सकता है? व्यवहार को पहला मानना, वह अनादि के व्यवहार में ही मूढ़ता है।

और दिगम्बर संत कहते हैं कि—''**भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो**''—अर्थात् भूतार्थ का आश्रय करनेवाला जीव ही निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।

उसके बदल श्वेताम्बर में ऐसा कहते हैं कि—''व्यवहारी सो समकिती कहे भाष्य व्यवहार।''

—इसमें भी महान दृष्टिभेद है।

दिगम्बर संत कहते हैं कि—''निश्चयनयाश्रित मुनिवर प्राप्ति करें निर्वाण की।''

इससे विरुद्ध श्वेताम्बर में कहते हैं कि—''बहु दल दीसे जीवना जी, व्यवहारे शिवयोग।''

दिगम्बर जैनधर्म के सत्य सिद्धान्त का विरोध करके आज से लगभग ३०० वर्ष पहले ''८४ दिग्पट बोल'' में श्वेताम्बर मत का प्रतिपादन करते हुए श्री यशोविजयजी ने कहा है कि—

''निश्चयनय पहले कहें पीछे लें व्यवहार,
भाषाक्रम जानें नहीं जैनमार्ग को सार।
तातें सो मिथ्यामति जैनक्रिया परिहार,

व्यवहारी सो समकिती कहे भाष्यव्यवहार।
जो नय पहलें परिणमें सोइ कहैं हित कोइ,
निश्चय क्यों धुरि परिणमे ? सुखम मति करि जोई।''

देखो, यह कौन कहते है ?—श्वेताम्बरों की ओर से श्री यशोविजयजी ने दिगम्बरों की टीका करते हुए यह बात कही है; उसमें वे 'प्रथम व्यवहार और फिर निश्चय'—ऐसा कहते हैं और उसे सूक्ष्ममति मानते हैं। यहाँ दिगम्बर संतों के कथन में उसका उत्तर देते हैं कि—अरे भाई! कौन से व्यवहार को तुझे पहला कहना है ? यदि तुझे मंदकषाय को प्रथम कहना हो तो हम कहते हैं कि वह तो अनादि से रूढ़ है; जीव शुभराग तो अनादिकाल से करता आ रहा है; उसे जो मोक्षमार्ग मानता है, उसको हम व्यवहारमूढ़ कहते हैं। ''प्रथम व्यवहार और फिर निश्चय''—ऐसा मानना वह सूक्ष्म मति नहीं किन्तु स्थूल व्यवहारमूढ़ता है।

और ''प्रथम व्यवहारनय परिणमित होता है''—यह बात ही मिथ्या है, क्योंकि अज्ञानी के मिथ्याज्ञान में सच्चे नय होते ही नहीं। नय तो सम्यक् श्रुतज्ञान का प्रकार है। निश्चयनय से भूतार्थ स्वभाव का आश्रय किया, तब सम्यक्श्रुत हुआ; वह ज्ञान जब राग को जाने, तब उसमें व्यवहारनय होता है। इसके अतिरिक्त मिथ्यादृष्टि को व्यवहारनय नहीं होता। अज्ञानी का व्यवहार, वह व्यवहाराभास है। स्वभावोन्मुख होकर निश्चय प्रगट करे तो व्यवहार को व्यवहार कहा जाता है। जैनधर्म का कोई भी बोल लें, उसमें स्वभावोन्मुख होना आता है। स्वभावोन्मुख हुए बिना जैनधर्म के एक भी बोल का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता।

भाषा तो जड़ है; भाषा में व्यवहार आने से कहीं मोक्षमार्ग में व्यवहार की प्रधानता नहीं हो जाती। ''समझाते हुए भाषा में व्यवहार आता है, इसलिये प्रथम व्यवहार और फिर निश्चय है''—ऐसा जो मानते हैं, उनकी मान्यता मिथ्या है; उन्होंने भाषा की ओर देखा परन्तु वस्तुस्वरूप को नहीं देखा। वस्तुस्वरूप ऐसा है कि निश्चय के आश्रय से ही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है—व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग है ही नहीं।

''जैसा सर्वज्ञ के केवलज्ञान में भासित हुआ हो, वैसा होता है''—ऐसा यदि निर्णय करने जाए, तो वहाँ भी ज्ञानस्वरूप को पकड़े बिना केवलज्ञान का निर्णय नहीं होता; इसलिये ज्ञानस्वभावोन्मुख होना ही आया।

क्रमबद्धपर्याय होती है—ऐसा कहें तो वहाँ भी द्रव्य पर ही दृष्टि जाती है, क्योंकि पर्याय,

पर्याय में से नहीं आती किन्तु द्रव्य में से आती है, इसलिये द्रव्य पर दृष्टि गये बिना क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी नहीं होता।

इसीप्रकार व्यवहार का निर्णय करने जाये तो वहाँ भी, निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता—निश्चयपूर्वक ही व्यवहार होता है; इसलिये निश्चय के ज्ञानपूर्वक ही व्यवहार का यथार्थ ज्ञान होता है। यथार्थ निश्चय प्रगट हुआ, तब राग में आरोप करके उसे व्यवहार कहा जाता है। निश्चय प्रगट हुए बिना अकेले राग को व्यवहार कैसे कहा जाये? व्यवहार को व्यवहार कहलानेवाला निश्चय जागृत हुए बिना व्यवहार को "पहला" कैसे कहें? क्योंकि ऐसा व्यवहार तो अनादिकाल से कर ही रहा है, इसलिये वह तो अनादिरूढ़ है। क्या अनादिकाल में राग की मंदता नहीं की?—अनंतबार की है; तथापि जो उसे मोक्षमार्ग में पहला मानता है, वह अनादिकालीन व्यवहार में ही मूढ़ है।

आचार्यदेव उससे कहते हैं कि अरे भाई! तू विचार तो कर! मोक्षमार्ग ऐसा अपूर्व है कि जिसे पूर्वकाल में कभी नहीं किया, और उसका प्रारम्भ भी अपूर्वभाव से होता है। राग तो पूर्वभव में अनंतबार किया है परन्तु उसके द्वारा मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नहीं होता। आत्मा ने अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए देव-गुरु-शास्त्र की व्यवहारश्रद्धा की है, शास्त्रज्ञान किया है और पंच महाव्रत का पालन किया है;—इसप्रकार व्यवहाररत्नत्रय अर्थात् शुभराग तो अनादिकाल से किया है; उस व्यवहार में ही जो ममकार करता है अर्थात् जो ऐसा मानता है कि मोक्षमार्ग में व्यवहार पहले परिणमित होता है—वह जीव अनादिरूढ़ व्यवहार में मूढ़ है; उसकी अनादिकालीन संसारदशा में कोई अन्तर नहीं पड़ा है। मोक्षमार्ग में निश्चय क्या और व्यवहार क्या—उसका भी उसे भान नहीं है। राग को व्यवहार करनेवाला कौन?—जो निश्चय का भान करके जागृत हुआ, वह शुभराग को व्यवहाररूप से जानता है। निश्चयरहित अकेला व्यवहार तो अंध है।

निश्चय स्वभाव के भान बिना भले ही अनेक प्रकार का शुभराग करे, व्रत-तप-दया-दान करे, शास्त्र पढ़े, परन्तु वह सब अनादिरूढ़ व्यवहार है। अज्ञानी लोग जिस राग को व्यवहार कहते हैं, उसे तो यहाँ "अनादिरूढ़" कहकर आचार्यदेव ने महान सिद्धान्त रख दिया है। परमार्थस्वरूप आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान तो करता नहीं है और कषाय की मंदता में ही लगे रहकर जो ऐसा मानता है कि उससे मोक्षमार्ग प्रगट हो जाएगा—वह जीव अनादिरूढ़ व्यवहार में विमूढ़ मिथ्यादृष्टि है। प्रथम

व्यवहार परिणमित होता है—ऐसा मानकर वे व्यवहार के ही आश्रय में लगे रहते हैं। व्यवहार का आश्रय छोड़कर भूतार्थ स्वभाव का आश्रय किये बिना कभी भी सम्यग्दर्शन या मोक्षमार्ग नहीं होता और मिथ्यात्व दूर नहीं होता।

कोई कहे कि—पहले सत्य का श्रवण करे, तब फिर बाद में समझ में आता है; इसलिये देखो, पहले व्यवहार आया या नहीं?—तो कहते हैं कि नहीं; क्योंकि चैतन्यवस्तु शरीर-मन-वाणी और राग से पार है—इसप्रकार चैतन्य की प्रतीतिपूर्वक जो सुने उसी ने ''सुना'' कहा जाता है। जिसे चैतन्य की रुचि नहीं है, उस जीव ने आत्मा की बात अनादिकाल से सुनी ही नहीं है। आगे चौथी गाथा में यह बात कही थी कि शुद्ध आत्मा की बात जीव ने कभी सुनी ही नहीं है। शब्द तो कानों में पड़े, तथापि कहते हैं कि ''सुनी ही नहीं है,'' क्योंकि अंतर में उस प्रकार की रुचि प्रगट नहीं की, इसलिये निश्चय के बिना व्यवहार किसका कहा जाए? उपादान जागृत हुए बिना श्रवण को किसका निमित्त कहा जाए?

प्रवचनसार के चरणानुयोग में भी अन्त में ऐसा कहा है कि शुद्धोपयोगवालों की ही मुक्ति है। चैतन्य का स्वभाव जानने का है; परन्तु इस ज्ञेय में ऐसा क्यों?—ऐसा विकल्प करने का चैतन्य का स्वभाव नहीं है; उसमें बीच में शुभ-अशुभवृत्ति आए, वह मोक्ष का कारण नहीं है। शुद्धोपयोग को ही मोक्ष का कारण कहा है। वहाँ बीच में मुनि को कैसा शुभराग होता है, उसकी पहिचान कराई है; परन्तु उस शुभ को कोई मोक्ष का कारण मान ले तो कहते हैं कि शुभराग, मोक्ष का कारण नहीं है; मोक्ष तो शुद्धोपयोग से ही होता है।

जो जीव ऐसा कहता है कि पहले व्यवहार और फिर निश्चय होता है,—तो उससे कहते हैं कि कौन सा व्यवहार पहले होता है? निश्चय प्रगट हुए बिना शुभराग को व्यवहाररूप से जानेगा कौन? चैतन्यवस्तु की ओर उन्मुख होकर उसका ज्ञान कर तो व्यवहार का ज्ञान होगा। चैतन्यवस्तु को पकड़ने में किसी राग का—व्यवहार का आश्रय है ही नहीं; विकल्पातीत वस्तु को पकड़ने में अन्य कोई साधन है ही नहीं। ''ज्ञायक'' को पकड़ में लिया, तब राग को जाननेवाला जागृत हुआ और उस समय राग को व्यवहार कहा। यह वस्तु बाह्य क्षयोपशम की या शास्त्रों के पाण्डित्य की नहीं है, यह तो अन्तर्दृष्टि की वस्तु है। जो मोक्षमार्ग में पहले व्यवहार को मानता है, वह जीव जैनमार्ग को नहीं जानता परन्तु अनादिकालीन व्यवहार में मूढ़ है।

''जो निश्चयपूर्वक ही व्यवहार मानते हैं, परन्तु प्रथम व्यवहार और फिर निश्चय—ऐसा

नहीं जानते, वे भाषाक्रम को नहीं जानते;''—ऐसा अज्ञानी कहते हैं। परन्तु भाई! भाषा में व्यवहार आता है, उससे क्या हुआ?'' भाई, तू सुन!''—ऐसा कहा, वहाँ कथन में व्यवहार तो आया, परन्तु उसका मतलब यह नहीं है कि व्यवहारनय पहले परिणमित होता है।

कुछ लोग कहते हैं कि ''व्यवहारी सो सम्यक्त्वी''—किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है; निश्चय के आश्रय से ही सम्यक्त्व है। मोक्षमार्ग में जो पहले व्यवहार को मानता है अथवा व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग होना मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है;—ऐसा कुंदकुंदाचार्य आदि दिगम्बर संतों ने डंका पीटकर स्पष्ट घोषित किया है। भगवान! शांत हो! वाद-विवाद को छोड़कर वस्तुस्थिति को समझने का प्रयत्न कर! शुभराग परिणति तो अनादि से चली आ रही है; उसे व्यवहार कैसे कहा जा सकता है? इसलिये उस अनादिरूढ़ व्यवहार का आश्रय छोड़ और ज्ञायकतत्त्व की दृष्टि कर! मैं ज्ञायक हूँ—इसप्रकार भूतार्थ स्वभाव को दृष्टि में लिया, तब निश्चय प्रगट हुआ, और तभी राग को उपचार से व्यवहार कहा गया; इसलिये मोक्षमार्ग में निश्चय की ही प्रधानता है—व्यवहार की प्रधानता नहीं है। अनुपचार मोक्षमार्ग प्रगट हुए बिना राग में उपचार किसका? निश्चय के बिना व्यवहार किसका? उपादान के बिना निमित्त किसका?

ज्ञायकतत्त्व पर जिसकी दृष्टि नहीं है, और अनेकप्रकार के जो शुभ विकल्प उठें, उनकी रुचि करके उन्हीं को मोक्ष का साधन मानता है, वह जीव 'समयसार' को नहीं देखता। विकल्प तो असार हैं; परम सारभूत ऐसा शुद्ध आत्मा है, उसे वह जानता नहीं है। पंच महाव्रतादि शुभ विकल्पों को मोक्षमार्ग मानकर उनका ममकार करता है, वह जीव अनादिरूढ़ व्यवहार में मूढ़ वर्त रहा है, और आत्मा के निश्चय स्वभाव में अनारूढ़ है। शुभ-अशुभराग अनादिकाल से करता आ रहा है, उसी में मोहित होकर मूढ़रूप से वर्तता है; परन्तु शुभाशुभ वृत्तियाँ तो क्षणिक हैं और मैं तो ज्ञायकतत्त्व भूतार्थ हूँ—ऐसा प्रौढ़ विवेक वह अज्ञानी नहीं करता, इसलिये उसे कभी धर्म नहीं होता। शुभ को व्यवहार तभी कहा जाता है, जब उसका निषेध करनेवाला निश्चय प्रगट हो जाए; इसके अतिरिक्त शुभ को व्यवहाररूप से भी नहीं गिनते। जो शुभराग से अपने को मुनि या श्रावक मानता है, वह जीव अनादिरूढ़ व्यवहार में मूढ़ है और प्रौढ़ विवेकवान निश्चय पर वह अनारूढ़ है। आचार्यदेव ने अकेले व्यवहार के लिये 'अनादिरूढ़' विशेषण लगाया, और निश्चय के लिये 'प्रौढ़ विवेकवान'—ऐसा विशेषण लगाया। इसप्रकार आमने-सामने विशेषणों का उपयोग किया है। शुभराग में मोक्षमार्ग मानकर जो उसमें वर्तता है, उससे कहते हैं कि तेरा व्यवहार तो अनादिरूढ़

है; राग और विकल्प से पार भूतार्थ चैतनयस्वभाव को दृष्टि में लेना, वह प्रौढ़ विवेक है।—ऐसे प्रौढ़ विवेक द्वारा जो भूतार्थ स्वभाव का अवलंबन नहीं करता और अनादिकालीन राग का अवलम्बन नहीं छोड़ता; तथा जो ऐसा मानता है कि शुभराग करते-करते निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट हो जाएगा-वह जीव अनादिरूढ़ व्यवहार में मूढ़ है और प्रौढ़ विवेकवान निश्चय पर वह अनारूढ़ है; जिस भाव से अनादिकाल से संसार में भटक रहा है, उसी में वह मूढ़ है।

व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट नहीं होता; किन्तु प्रथम से ही पराश्रय की श्रद्धा छोड़कर, व्यवहार का अवलम्बन छोड़कर भूतार्थ-स्वभाव का अवलम्बन करने से ही निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट होता है। जिसप्रकार काले कोयले को यदि सफेद बनाना हो तो उसे जला देना पड़ता है; परन्तु उसे धोने से वह सफेद नहीं होता। उसीप्रकार संसार काले कोयले जैसा है; शुभराग भी संसार है; उस राग के अवलम्बन से संसार नहीं मिटता, परन्तु रागरहित चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से संसार मिट जाता है। संसारमार्ग और मोक्षमार्ग—इन दोनों भावों की जाति पृथक् है। अनादिकाल से जिस भाव से संसार में भटक रहा है, उस भाव से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ कैसे हो सकता है ? अज्ञानी कहते हैं कि 'शुभराग व्यवहार तो है न!' परन्तु भाई! शुभराग तो व्यवहार कब कहा जाता है ?—जब उसकी रुचि छोड़कर निश्चय प्रगट करे तब। चैतन्य ज्ञायकतत्त्व की अस्ति को स्वीकार करके विकार की—व्यवहार की रुचि छोड़ तो तेरे शुभराग को व्यवहार कहा जाये। जो ऐसा मानता है कि "प्रथम व्यवहार और फिर निश्चय;" उसके तो राग की—व्यवहार की रुचि है; उसके शुभराग को तो वास्तव में व्यवहार भी नहीं कहा जा सकता।

देखो, यह दिगम्बर संतों की वाणी! दिगम्बर संतों ने यथार्थ मोक्षमार्ग को बना रखा है। निश्चयनय ऐसा प्रौढ़ विवेकवान है कि उसके अवलम्बन से आत्मा और राग का भेदज्ञान होता है—व्यवहार के अवलम्बन से भेदज्ञान नहीं होता। जब स्वयं ज्ञायक आत्मा की दृष्टि करे, तब शुभराग को व्यवहार कहा जाता है। निश्चय की दृष्टि के बिना सब व्यर्थ है। व्यवहार भले हो, निमित्त भले हो, परन्तु उनके आश्रय से आत्मा का धर्म प्रगट हो, बना रहे, अथवा धर्म में वृद्धि हो—ऐसा नहीं है। निश्चय ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ही धर्म प्रगट होता है, बना रहता है और उमसें वृद्धि होती है।

उपदेश-वचनों में पापभाव से छुड़ाने के लिये कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि शुभराग करेगा तो धर्म के निमित्त उपस्थित रहेंगे! परन्तु वास्तव में उपादान में धर्म प्रगट हुए बिना निमित्त

किसका ? अशुभ को छुड़ाने के लिये ही वह बात कही है; वहाँ कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि शुभ करते-करते धर्म होगा—शुभ को मोक्षमार्ग नहीं कहना है। जीवों को विषय-कषायों के तीव्र पापभाव से छुड़ाने के लिये शास्त्रों में शुभभाव करने का भी उपदेश दिया है; परन्तु वहाँ ऐसा सिद्धान्त स्थापित नहीं करना है कि शुभभाव करते-करते धर्म हो जायेगा। शुभराग को पकड़कर जो उसकी रुचि और उत्साह करते हैं, वे जीव प्रौढ़ विवेकवान निश्चय पर आरूढ़ नहीं हुए हैं अर्थात् मोक्षमार्ग में नहीं आये हैं, परन्तु अनादिकालीन व्यवहार में ही मूढ़ होकर पड़े हैं। व्यवहार में मूढ़ होकर विपरीत मार्ग पर चढ़े, सो चढ़े, परन्तु अनादि से वह शुभराग करने पर भी अभी पार नहीं आया! मोक्षमार्ग में बीच में शुभराग आता अवश्य है, परन्तु उस राग के अवलम्बन से मोक्षमार्ग नहीं होता; मोक्षमार्ग तो आत्मा के भूतार्थ स्वभाव के अवलम्बन से ही है। जो ऐसे निश्चय मोक्षमार्ग को नहीं जानते और शुभराग को मोक्षमार्ग मानकर उसी में मूढ़रूप से पड़े हैं, वे जीव आत्मा के परमार्थ स्वभाव में अनारूढ़ वर्तते हुए शुद्ध आत्मा को नहीं देखते।

भगवान अर्थात् महिमावंत ऐसा भूतार्थरूप शुद्ध आत्मा है; उसकी जो महिमा नहीं करते और अनादि के राग को व्यवहार मानकर उसकी महिमा करते हैं, वे व्यवहार में मूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं; उन्हें मुनित्व तो कहाँ से होगा ?

''बहु दल दीसे जीवनां जी व्यवहारे शिवयोग;—अर्थात् व्यवहार के अवलम्बन से अनेक जीव मुक्ति को प्राप्त हुए हैं''—ऐसा व्यवहाराभासी अज्ञानी कहते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि—जो निश्चय पर आरूढ़ हैं, वे ही मोक्ष प्राप्त करते हैं; जो जीव निश्चय पर आरूढ़ नहीं हैं और अनादिरूप व्यवहार में ही मूढ़ हैं, उनकी तीनकाल में मुक्ति नहीं होती। भूतार्थस्वभाव के भान बिना तो सब इकाईरहित शून्यों के समान हैं। जो भगवान चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मा को जानकर प्रौढ़ विवेकवान निश्चय पर आरूढ़ वर्तते हैं, उन्हीं को अल्पकाल में मुक्ति की प्राप्ति होती है; दूसरों को कभी मुक्ति नहीं होती।

....तो भवसमुद्र से पार हो जाए!

आत्मा का स्वभाव क्या ?.... तो कहते हैं कि ज्ञान। ज्ञान के अतिरिक्त इन जड़ शरीर-मन-वाणी को लक्ष में से छोड़ दो और अन्तर की शुभाशुभ वृत्तियों को भी लक्ष में से छोड़ दो, उन सब से पार अंतर में अकेले ज्ञान को लक्ष में लो;—वह ज्ञानस्वभावी आत्मा है।

ज्ञान का स्वभाव जानने का है; जगत के किन्हीं भी, ज्ञेयों से दब जाए—ऐसा ज्ञान का स्वभाव नहीं है, परन्तु सर्व ज्ञेयों से पृथक् रहकर उन्हें जाने—ऐसा ज्ञान का स्वभाव है, इसलिये ज्ञान का तैरने का स्वभाव है।

परन्तु अज्ञानी को अपने ज्ञानस्वभाव की महिमा भासित नहीं होती, इसलिये वह पर की महिमा कर-करके संसार-समुद्र में डूबता है। यदि ज्ञान की महत्ता भासित हो तो संसार-समुद्र से पार हो जाए, क्योंकि ज्ञान का स्वभाव तैरने का है।

जिसप्रकार उछलते हुए समुद्र में गिरने पर भी लकड़ी डूबती नहीं है किन्तु तैरती है, क्योंकि उसका स्वभाव पानी में तैरने का है; उसीप्रकार अनंत ज्ञेयों से उछलते हुए समुद्र के बीच में रहने पर भी मेरे ज्ञान का स्वभाव उनसे भिन्न रहकर तैरने का है; मेरे ज्ञान का स्वभाव सब को जानने का है, परन्तु पर में कहीं अहंपना करके रुक जाए—ऐसा मेरे ज्ञान का स्वभाव नहीं है।—इसप्रकार यदि अपनी ज्ञानमहिमा की प्रतीति करे तो जीव को अपूर्व सम्यग्दर्शन हो और वह भवसमुद्र से पार हो जाए! [—प्रवचन से]

आत्मा की कहानी

अपना अपूर्व कल्याण करने के लिये आत्मा की यह बात समझने योग्य है। जिसप्रकार लौकिक कथा-कहानियों को समझना सरल मालूम होता है; उसीप्रकार यह भी चैतन्यभगवान आत्मा की कहानी है; इसलिये इसे समझने में रुचि और उत्साह होना चाहिए। आत्मा की सच्ची समझ पूर्व अनंतकाल में नहीं की है; इसलिये प्रारम्भ में नवीन मालूम होती है, परन्तु रुचि और उल्लासपूर्वक समझना चाहे तो सबकुछ समझ में आ सकता है। अब तो मुझे अपने आत्मा का हित करना है;—ऐसी जिसे अन्तर में आकांक्षा जागृत हो, उसकी बुद्धि आत्मा को समझने की ओर उन्मुख हुए बिना नहीं रहती।

पोरबन्दर में पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा-महोत्सव प्रसंग पर

पूज्य गुरुदेव के मंगलहस्त से

प्रतिष्ठित जिनबिम्ब

(१)	श्री पार्श्वनाथ भगवान (मूलनायक)	पोरबन्दर
(२)	श्री पार्श्वनाथ भगवान (विधिनायक)	पोरबन्दर
(३)	श्री नेमिनाथ भगवान	पोरबन्दर
(४)	श्री शांतिनाथ भगवान	पोरबन्दर
(५)	श्री सीमंधर भगवान	उमराला
(६)	श्री आदिनाथ भगवान	उमराला
(७)	श्री महावीर भगवान (स्फटिक के)	
(८)	श्री महावीर भगवान (चाँदी के)	अहमदाबाद
(९)	श्री महावीर भगवान	जेतपुर
(१०)	श्री नेमिनाथ भगवान	वडिया
(११)	श्री शांतिनाथ भगवान	बम्बई

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभ-विद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये—जमनादास माणेकचंद रवाणी